

॥ चतुर्थोऽध्यायः ॥

आत्मबोध-प्रकरणम्

यथाक्रमं समारब्धं ज्ञानसत्रं समागताः ।

समये नियतस्थाने तत्त्वार्थमृषयः समे ॥ १ ॥

चतुर्थे दिवसे तत्र प्रज्ञासत्रस्य सौंऽगिराः ।

ब्रह्मविद्यारुचिर्नम्रः सत्राध्यक्षमथाब्रवीत् ॥ २ ॥

टीका—यथाक्रम ज्ञान सत्र आरंभ हुआ । ऋषि-मनीषिगण यथासमय नियत स्थान पर तत्त्वचर्चा के लिए एकत्रित हुए । प्रज्ञा सत्र के चौथे दिन ब्रह्मविद्या में अगाध अभिरुचि रखने वाले अंगिरा ने सत्राध्यक्ष से विनयावनत् हो पूछा ॥ १-२ ॥

अंगिरा उवाच-

मान्या विगतकाले यदमृतं प्राप्तुमुत्सुकैः ।

अस्माभिः कृतकृत्याश्च वयं शंकाकुलाः पुनः ॥ ३ ॥

ज्ञानमात्रेण चैतेषां लाभान् मर्त्योऽतिदुर्लभान् ।

प्राप्तुमर्हति किं ? ज्ञात्वा नो पथिश्रेयसा चलेत् ॥ ४ ॥

तथ्यं किञ्चिदविज्ञातं मन्ये तत्रावशिष्यते ।

यतो नैतद् भवत्येषां ग्रंथिर्नशिच्छद्यतां मुने ॥ ५ ॥

टीका—अंगिरा बोले, मान्यवर आपने पिछले दिनों जो अमृत पान कराया, उससे हम कृतकृत्य हुए लेकिन एक शंका हमें अभी भी व्यग्र कर रही है कि क्या यह सब ज्ञान लेने मात्र से ही मनुष्य उन दुर्लभ लाभों को पा सकेगा ? देखा यह जाता है कि जानकार भी मनुष्य श्रेय पथ पर गतिशील नहीं हो पाता । लगता है कोई ऐसा तथ्य अविज्ञात रह गया है जिसके कारण वह सुयोग नहीं बन पाता । कृपया इस उलझन को और भी सुलझावे ॥ ३-५ ॥

याज्ञवल्क्य उवाच-

गहनं मार्गणं ये तु भवतामिव कुर्वन्ते ।

सत्यमुच्चस्तरं ब्रह्मन् सत्यं द्रष्टुमीश्वराः ॥ ६ ॥

ब्रह्मवेतृत्वलाभं ते पूर्णतां लक्ष्यगां तथा ।

प्राप्नुवंति न चान्येऽत्र सफलाः संभवन्ति हि ॥ ७ ॥

टीका—तत्त्वज्ञानी याज्ञवल्क्य जी बोले, ब्रह्मविज्ञान में अनुसंधानरत हे ब्रह्मचारी आप जैसी गहरी खोज करने वाले ही उच्चस्तरीय सत्य का दर्शन कर पाते हैं । उन्हें ही ब्रह्मवेत्ता होने का लाभ मिलता है और वे ही पूर्णता का लक्ष्य प्राप्त

करते हैं, अन्य लोग इसमें सफल नहीं हो सकते ॥ ६-७ ॥

अध्यात्मदर्शन का सूत्र जिन ढूँढ़ा तिन पाइयाँ अक्षरशः सही है। जो ढूँढ़ता है, वही पाता है, किंतु जो परिश्रम करने से जी चुराता है, उसे कहाँ कुछ हस्तगत हो पाता है।

तैरने की इच्छा रखने वाले तैराक को गहरे पानी में उतरना पड़ता है, तभी उसे उसका आनंद मिल पाता है, पर जो गहराई में जाने से डरते हैं, वे उस आनंद से वंचित रह जाते हैं।

गोताखोर के लिए यह आवश्यक है कि वह समुद्र की अतल गहराई में डुबकी लगाए, तभी मूँगा-मोती जैसे बहुमूल्य रत्न मिल पाने का सुयोग बन पाता है। जो यह साहस नहीं सँजो पाते, उथले प्रयास भर करते हैं, उन्हें निराशा ही हाथ लगती है।

आत्मक्षेत्र में भी यही बात लागू होती है। जो निरंतर अनुसंधानरत रहते हैं, वही इस क्षेत्र के मणि-माणिक्य उपलब्ध कर ब्रह्मपरायण बनने का लाभ हस्तगत कर पाते हैं, मगर जो तैराक, गोताखोर की भाँति गहराई में जाने से कतराते हैं, उथले प्रयास करते और ढूँढ़ खोज के नाम पर लकीर भर पीटते हैं, उन्हें करतलगत कुछ नहीं हो पाता और सदा छूँछ रहते हैं। इसी तथ्य को ऋषि ने यहाँ स्पष्ट करते हुए जिज्ञासु साधकों की तथ्यान्वेषी बुद्धि को सराहा है।

महत्ता ज्ञानजा तात ! शास्त्रैः सत्पुरुषैरपि।

एकस्वरेण गीतोक्ता विश्वश्रेष्ठोपलब्धि का ॥ ८ ॥

ज्ञानं तत्केवलं नैव ज्ञानमात्रे तु सीमितम्।

ज्ञातं बोधस्तरं यावद् विकास्यं ज्ञानमुच्यते ॥ ९ ॥

प्रशंसितमिदं सर्वैर्मुक्तकंठेन निश्चितम्।

बोधस्य विविधा धारा विज्ञानेनान्वयंति तत् ॥ १० ॥

अंतःक्षेत्रविशिष्टानि ज्ञानान्येव मतानि तु।

स्वस्वक्षेत्रस्य तान्यत्र विज्ञानानि महामुने ॥ ११ ॥

एतादृशस्य ज्ञानस्योपार्जनं सौभगं नृणाम्।

पुरुषार्थः परः प्रोक्तो जगन्मंगलकारकः ॥ १२ ॥

प्राप्तुं ज्ञानामृतं सर्वे भवन्तो यादृशं सदा।

तत्त्वचर्चा विचाराणां मन्थनं कुर्वते तथा ॥ १३ ॥

ताभ्यां तथोपलब्धींश्च करिष्यन्त्यर्जिता यथा।

आदिकाले समुद्रस्य मन्थनेनार्जिताः सुरैः ॥ १४ ॥

टीका—हे तात् ज्ञान की महत्ता शास्त्रों और सत्पुरुषों ने एक स्वर से गाई है, उसे विश्व की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि कहा है, किंतु वह ज्ञान मात्र जानकारी तक ही सीमित नहीं है। जानकारी को बोध के स्तर तक विकसित किया जाए तभी वह ज्ञान बनता है, जिसकी प्रशस्ति मुक्त कंठ से की जाती रही है। बोध की अनेकों धाराएँ हैं जो मात्र जानकारी को उनसे संबंधित विज्ञान से जोड़ देती हैं। अंतःक्षेत्र के विशिष्ट

ज्ञान अपने-अपने स्तर के विज्ञान कहे जाते हैं—ऐसा ज्ञान उपार्जन ही मनुष्य का सर्वोपरि पुरुषार्थ और सौभाग्य है, जो जगत का कल्याण करने वाला है। आप लोग ज्ञानरूपी अमृत प्राप्ति के लिए जिस प्रकार तत्व चर्चा और विचार मंथन कर रहे हैं, उससे वैसी ही उपलब्धियाँ अर्जित करेंगे जैसी कि आदिकाल में देवताओं द्वारा समुद्रमंथन से उपार्जित की गई थीं ॥ ८-१४ ॥

ज्ञान का मोटा अर्थ जानकारी है। कामचलाऊ ज्ञान-जानकारी तो प्रायः सभी को होती है, पर जिस ज्ञान की चर्चा यहाँ ऋषि कर रहे हैं, उसका तात्पर्य बाह्य जानकारी भौतिक ज्ञान से नहीं है। अध्यात्म तत्त्वज्ञान में इस ज्ञान को विशेष अर्थ में प्रयुक्त किया गया है और उसकी विरुदावली गाते हुए यहाँ तक कहा गया है कि न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते अर्थात् ज्ञान से बढ़कर पवित्र इस संसार में और कुछ नहीं है। इसीलिए ऋषि ने भी यहाँ उस ज्ञान को उपलब्ध कर उसका अमृत पान करने पर जोर दिया है।

अध्यात्म में ज्ञान सत्य को कहा गया है। विभिन्न स्तोत्रों से हम जो जानकारी अर्जित करते हैं, वह ज्ञान सत्य नहीं है। वह तो अवास्तविक है बाह्य है, अज्ञान है। इसी अज्ञान के कारण हमें यह संसार उसके प्राणी, वस्तुएँ कुछ के कुछ भासते हैं, हम स्वयं को भी हाड़-माँस का पुतला भर मानते हैं, पर वस्तुतः ऐसा है नहीं। सत्य वह है, जो नहीं बदलता, न नष्ट होता न मरता और न क्षय होता है। इसी शाश्वत सत्य को, यथार्थ को जान लेना ही वास्तविक ज्ञान है।

शास्त्रों में ज्ञान की तुलना सूर्य से की गई है। सूर्य जब उदित होता है, तो अंधकार के साम्राज्य को नष्ट कर देता है, तो उसका अज्ञानांधकार स्वतः समाप्त हो जाता है, फिर उसे जो कुछ दीखता है वह सत्य होता है और उसकी यह स्थिति कल्याणकारी, सर्वसमर्थ, सर्ववेत्ता जैसी होती है। इसीलिए ऋषि ने तमसोमा ज्योतिर्गमय कहकर उस दिव्य ज्ञान को प्राप्त करने की आकांक्षा परमसत्ता से प्रकट की है। मनुष्य के इसी स्वरूप का उद्घोष शास्त्रकार ने य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति के रूप में किया है। ऋतंभरा प्रज्ञा के रूप में इसी ज्ञान को अर्जित करने की प्रेरणार्थ ग्रंथों में दी गई है।

इस आत्मिक ज्ञान, आत्मबोध की लक्ष्य सिद्धि ही मनुष्य जीवन का उद्देश्य है। इसी का विवेचन अनुसंधान आत्मिकी की ज्ञानयोग धारा के अंतर्गत किया जाता है।

जिज्ञासवः समस्ता हे अंगिरः प्रमुखा इह।

स्थूलः परिचयो नृणां शरीरेणैव प्राप्यते ॥ १५ ॥

दृश्यत्वान्नामरूपाभ्यां युक्तः कायोऽभिमन्यते।

कर्मकर्ता तदाश्रित्य दंड्यतो पूज्यतेऽपि च ॥ १६ ॥

नेयं श्रेष्ठा मता लोकमान्यता बुधसत्तमैः।

५.३४ प्रज्ञोपनिषद्

करणं तु शरीरं हि मनः स्वामिनिदेशगम् ॥ १७ ॥

मनुष्यत्वस्य रूपं तत्सत्यं मानवचिंतने ।

चेतनायां च प्रच्छन्नं तस्यैव स्तर एष च ॥ १८ ॥

शोभनोऽशोभनः स्वस्य प्रकृत्याऽऽकांक्षयापि च ।

सन्मार्गे वा कुमार्गे वा चलितुं प्रेरयत्यलम् ॥ १९ ॥

अत एव विनिर्मेयश्चेतनायाः स्तरः सदा ।

ऊर्ध्वगाः कर्मणीहस्यानैष्कृत्यं संसृतेः स्तरात् ॥ २० ॥

टीका—हे अंगिरा सहित समस्त जिज्ञासुओ मनुष्य का स्थूल परिचय उसके शरीर से मिलता है। दृश्यमान होने के कारण नामरूपधारी काया ही कर्मकर्ता मानी जाती है और इसी आधार पर उसे दंड-पुरस्कार की उपलब्धि भी होती है, किंतु विद्वानों का मत है कि यह लोकमान्यता सही नहीं है। वस्तुतः शरीर उपकरण मात्र है, उसे वाहन की तरह मनरूपी स्वामी का निर्देश पालना पड़ता है। मानवी सत्ता का वास्तविक रूप तो उसकी चिंतन-चेतना में छिपा होता है। उसी का भला-बुरा स्तर अपनी आदतों और आकांक्षाओं के अनुरूप सन्मार्ग-कुमार्ग पर चलने की प्रेरणा उत्पन्न करता है। इसी कारण चेतना के स्तर को ही ऊर्ध्वगामी बनाया जाना चाहिए। ऐसा न बन पड़े तो कर्म में विश्व प्रवाह के अनुरूप निकृष्टता ही बनी रहेगी ॥ १५-२० ॥

सर्वविदित है, हर प्राणी के क्रिया-कलाप उसके चेतनात्मक स्तर के अनुरूप ही होते हैं। कई बार देखा जाता है कि मानवी शिशु बिछुड़कर जब जंगली जानवरों के झुंड में सम्मिलित हो जाता है, तो अपना व्यवहार, चाल-ढाल उसी के अनुरूप बना लेता है। यह चेतनात्मक अधोगमन हुआ। आम जीवन में भी आदतों-आकांक्षाओं, वासनाओं, तृष्णाओं के रूप में जो निकृष्टता-क्षुद्रता दिखाई पड़ती है, वह भी उसी अधोगामी चेतना का ही परिणाम है, किंतु गहराई से विचारें तो ज्ञात होगा कि मनुष्य का चेतनात्मक स्तर प्रकृतितः इतना निम्न है नहीं, वह उसे जान-बूझकर क्षुद्र प्राणियों जैसा बना लेता है।

ज्ञातव्य है, प्राणियों का जिस क्रम में उद्भव-विकास होता गया, उनका चेतनात्मक स्तर भी तदनुसार ऊँचा उठता गया। चींटी जैसे छोटे जीव-जंतु में चेतना का स्तर काफी निम्न होता है। वे प्रकृति प्रेरणा से ही अपना काम चलाते हैं। उनसे कुछ विकसित जीव बंदर, कुत्ते, बिल्ली आदि हैं। इनका भी काम प्रकृति प्रेरणा से ही होता है, पर उनमें कुछ सीखने-समझने की भी सामर्थ्य होती है। चिम्पांजी इनसे भी विकसित है, अस्तु उसमें कुछ हद तक सोचने की भी क्षमता पाई जाती है।

इस चेतना का चरमोत्कर्ष मनुष्य में हुआ है, क्योंकि इसे सर्वांगीण प्राणी बनाकर इस धरित्री पर भेजा गया है। उसमें

सोचने-समझने से लेकर भूल सुधारने-ऊँचा उठाने स्वभाव संवेदना की गहराई तक की क्षमताओं का समावेश स्पष्टा ने किया है और उसे सर्वोपरि बनाया है, पर इसे दुर्भाग्य ही कहना चाहिए कि मनुष्य इतनी समर्थ स्थिति में पहुँचकर भी निम्न योनि के जीवों जैसा ही अपने क्रियाकलाप रीति-नीति चिंतन चरित्र बनाए रखता और दीन-हीन स्थिति में पड़ा रहता है। वह चाहे तो अधोगामी दिशाधारा अपनाते हुए, क्षुद्र अहमक बन सकता है अथवा ऊर्ध्वगमन करके सर्वसमर्थ सर्वज्ञ स्थिति तक पहुँच सकता है। महामानव, महापुरुष इसी चेतना को परिष्कृत कर, उसके स्तर को ऊँचा उठाकर, ऊर्ध्वगामी बनाकर ऊँचा उठते और महान बनते हैं। इसी स्थिति में उनके अंतःप्रवाह के विपरीत मछली जैसा चल पड़ने का सत्साहस जगता और वह पराक्रम प्रस्तुत करने का सुयोग बन पड़ता है, जो एकाकी प्रयास से सामान्यजन प्रस्तुत नहीं कर पाते।

आदर्शवादिनी शिक्षा याति नान्तर्यदि स्वयम् ।

व्यवहारे न साऽऽयाति श्वासवत्क्रियते बहिः ॥ २१ ॥

बाह्या ये ह्युपदेशास्ते ज्ञानमात्रं ददत्यदः ।

निर्भरं मानवे कं स उपदेशं समाश्रयेत् ॥ २२ ॥

अन्यथा कर्तुमिच्छायाः स्तरं सहमतं मनः ।

कर्तुं तदिष्यते कार्यं चेदं संभवमस्ति च ॥ २३ ॥

चित्तोद्बोधनयोग्याभिः साधनाभिस्तपोबलैः ।

पूर्णो ब्रह्मज्ञ एतद्वा प्रेरयेत्सरलं भवेत् ॥ २४ ॥

गहनेनात्ममन्थेनाप्येतत् संभवति स्वतः ।

ज्ञानस्य स्वप्रकाशयत्वाज्ञानवत्त्वमथात्मनः ॥ २५ ॥

टीका—आदर्शवादी शिक्षण अंतराल तक न पहुँचने पर जीवन में उतर नहीं पाते और कुछ ही क्षणों में श्वाँस-प्रश्वाँस की तरह बाहर निकालकर फेंक दिए जाते हैं। बाह्य उपदेश तो मनुष्य को जानकारी भर देते हैं। उनमें से कौन किसको, कितनी मात्रा में हृदयंगम करे यह उसकी इच्छा पर निर्भर है। इस इच्छा का स्तर बदलने के लिए अंतःकरण को सहमत करना पड़ता है। यह कार्य या तो अंतराल को जगाने वाली साधना-तपश्चर्या द्वारा संभव है या फिर कोई पारंगत ब्रह्मज्ञानी अपनी पुण्य-प्रेरणा देकर उस प्रयोजन को सरल बनाता है। गहन आत्म-मंथन से भी यह कोई संभव हो सकता है, क्योंकि आत्मा ज्ञानवान होता है। और ज्ञान स्वप्रकाश भी है ॥ २१-२५ ॥

ऋषि यहाँ अंतःकरण को सुसंस्कारी बनाने के तीन उपाय सुझाते हैं।

(१) साधना तपश्चर्या द्वारा ।

(२) ब्रह्मज्ञानी की पुण्य-प्रेरणा द्वारा ।

(३) गहन आत्म-मंथन द्वारा ।

साधना-तपश्चर्या का प्रयोग आरंभ से ही आत्मशोधन-आत्मपरिष्कार के रूप में किया जाता रहा है। साधना कहते हैं जीवन साधना को। जीवन में जो भी अनुपयुक्त ताँ-अवांछनीयताएँ हेय स्तर की इच्छाएँ-आकांक्षाएँ घुस पड़ी हों, उन्हें बलपूर्वक निष्कासित कर जीवन को अनुशासित बनाना यह साधना है। तपश्चर्या अर्थात् तप। तप का अर्थ होता है तपाना। जिस प्रकार धातु शोधन के लिए उसे अग्नि से संस्कारित करना आवश्यक होता है, उसी प्रकार मनुष्य को भी अपने कुसंस्कारों को घटाने-मिटाने के लिए स्वयं को संयम रूपी तपश्चर्या में तपाना पड़ता है। इससे उत्पन्न ऊर्जा से ही अंतःकरण की कुसंस्कारिता का निष्कासन और सुसंस्कारिता अभिवर्द्धन शक्य-संभव हो पाता है।

यह कार्य तत्त्वज्ञानी-ब्रह्मज्ञानी के संपर्क सान्निध्य से भी संपन्न किया जा सकता है। सर्वविदित है, अध्यात्म क्षेत्र में श्रद्धा को आधारभूत तत्त्व कहा गया है। इसी के माध्यम से गुरु-शिष्य के मध्य संपर्क-मार्गदर्शन का प्रेरणा-प्रवाह चलता है। ज्यों-ज्यों श्रद्धा का आरोपण घनीभूत होता जाता है, यह प्रवाह भी तदनुरूप संपर्क जैसी कोई बात नहीं होती, फिर भी चेतना-प्रवाह इतना तीव्र होता है, कि यदि व्यक्ति उसे आत्मसात् करता रहे, तो आत्मशोधन-सुसंस्कारिता अभिवर्द्धन की प्रक्रिया उसके लिए सरल-सहज बन जाती है।

अंतराल को सुसंस्कारी बनाने के तीसरे उपाय के रूप में ऋषि आत्ममंथन की प्रक्रिया समझाते हैं। प्रायः इस क्षेत्र में जनसामान्य से जो आम भूल होती है, वह यह कि वह स्वयं को आत्मा न मानकर शरीर मान बैठता है और उसी की सेवा-सुश्रूषा, उन्नति-प्रगति, साज-सँभाल में निरत रहने लगता है। वस्तुतः यही वह मौलिक भूल है, जिसके कारण उससे अनैतिकताएँ-अवांछनीयताएँ बन पड़ती हैं और कषाय-कल्मषों के रूप में वे उसके अंतराल को घेर लेती हैं। इससे बचने का एक ही उपाय है कि हम अपना सही स्वरूप-आत्मस्वरूप समझें और उसे जानने प्राप्त करने का प्रयत्न करें। इसके लिए जिस साधना अनुशासन का आश्रय लिया जाता है वह है आत्ममंथन, आत्मचिंतन, आत्ममनन। कहा भी गया है आत्मा वाऽरै ज्ञातव्य श्रोतव्यः मंतव्यो अर्थात् आत्मा सुनने और मनन करने योग्य है। इसी के द्वारा उसकी अनुभूति और प्राप्ति संभव है। विद्वज्जन उसी अक्षय, अविनाशी, अजर, अमर, आत्मा का चिंतन करते हैं। लौकिक जीवन से उतना ही संबंध रखते हैं, जिससे समाज और शरीर का काम चलता रहे, अन्यथा आत्मा के गुणों और उसे समुन्नत बनाने का चिंतन ही उनका स्वभाव होता है। उसी में उन्हें असीम तृप्ति मिलती है।

प्रभावितं नरं कर्तुं चत्वारो हेतवो मताः।

पूर्वसञ्चित-संस्काराः स्वाभ्यासाः स्वजनाग्रहाः ॥ २६ ॥

समीपवर्त्ति यच्चैतद्वातावरणमस्ति तु।

चत्वारिमानिबध्नन्ति बन्धनेऽवाञ्छिते नरम् ॥ २७ ॥

एतादृशा नराः संति पाषाणहृदयास्ततः।

ज्ञानशिक्षावर्षणेन नार्द्रता तत्र जायते ॥ २८ ॥

टीका—हे तात मनुष्य को प्रभावित करने वाले चार कारण हैं पूर्वसंचित संस्कार, वर्तमान में पाले गए अभ्यास, प्रियजनों का आग्रह और समीपवर्ती वातावरण। ये चारों ही मनुष्य को अवांछनीयता के बंधन में जकड़ लेते हैं। ऐसे मनुष्य उस चट्टान जैसे कठोर हो जाते हैं, जिस पर सद्ज्ञान शिक्षण की वर्षा से भी कोई नमी नहीं आती ॥ २६-२८ ॥

यहाँ व्यक्ति को प्रभावित करने वाले चार कारक बताए गए हैं पूर्वजन्मों के संस्कार, इस जीवन के आदत-अभ्यास, स्वजन-संबंधियों का अनुरोध और स्थानीय वातावरण।

संस्कारों के बारे में कहा जाता है कि वह जीव से छाया की तरह चिपके रहते हैं और अपने बुरे-भले प्रभाव छोड़ते हैं। जीव के पिछले संस्कार जैसे रहते हैं, उसकी झलक इस जन्म में भी दिखाई पड़ती है। मनुष्य के पिछले जन्म की इच्छाएँ-आकांक्षाएँ, आस्थाएँ, मान्यताएँ विचारणा-भावना जैसी रहती है, उसका वर्तमान जीवन भी उसी के अनुरूप बन जाता है। इसी कारण व्यक्तित्व बनाने-बिगाड़ने में संस्कार की महत्वपूर्ण भूमिका होती है, क्योंकि जीव उस पूर्व के अभ्यास को पूरी तरह भुला नहीं पाता और स्वतः उन आदतों-अभ्यासों की ओर आकृष्ट हो जाता है। इस संदर्भ में भगवान बुद्ध के एक शिष्य की वह कथा ध्यातव्य है, जिसमें वह बार-बार मठ के समीपवर्ती आम्रवृक्ष की ओर आकृष्ट हो जाता था और दिन-रात उसी के नीचे जप-ध्यान किया करता, जबकि अन्य सभी आश्रम परिसर में रहते। शिकायत जब तथागत तक पहुँची, तो उनसे कारण स्पष्ट करते हुए रहस्य उद्घाटित किया और बताया कि पिछले जन्म में इसे शुक्योनि प्राप्त थी और वह उसी पेड़ पर निवास करता था। उस पूर्व संचित संस्कार के कारण ही उसका मोह उस तरुवर से टूट नहीं पाया है, जिससे स्वभावतः उधर आकर्षित हो जाता है।

ऐसी होती है संस्कार की प्रबलता की वह जीव को उसकी पुरानी प्रवृत्ति की ओर घसीट ले जाती है और वह करने पर विवश कर देती है, जो आदर्शवादिता और न्यायनिष्ठा के विपरीत हो।

इसी प्रकार अवांछनीयता अभ्यास जब आदत में उतर आता है, तो वह व्यावहारिक जीवन का एक अभिन्न अंग बन जाता है और फिर जाने-अनजाने उसकी आवृत्ति होने लगती है।

५.३६ प्रज्ञोपनिषद्

जुआरी को जब जुए में रस आने लगता है, तो धीरे-धीरे यह एक व्यसन का रूप धारण कर लेता है, फिर उसे जुआ खेले बिना चैन नहीं आता।

मादक द्रव्यों, नशों का सेवन करने वालों को जब एक बार चस्का लग जाता है तो फिर वे इसके चंगुल से निकल नहीं पाते। व्यभिचारियों की भी यही गति होती है। वे दिन-रात वेश्यालयों की खाक छानते फिरते हैं। ऐसे ही जब कोई अश्लील शब्द आदतवश वाणी में उतर आता है तो जाने-अनजाने उसकी पुनरावृत्ति होने लगती है। ऐसी ही अनेकानेक वर्जनाएँ हैं, जो अभ्यासवश मनुष्य अपने जीवन में उतार लेता है और उसका आदी बन जाता है। यदि व्यक्ति इन अवांछित अभ्यासों से बचा रहे, तो इनके कुप्रभावों से बचा रहना सहज संभव हो जाता है तथा जीवन में ऊँचा उठना भी सरल पड़ता है।

बंधु-बांधवों के आग्रह-अनुरोध भी मनुष्य को कोई कम प्रभावित नहीं करते। देखा जाता है कि बच्चा न्यूनाधिक उन्हीं प्रवृत्तियों में ढल जाता है जैसी उसके अभिभावकों की होती है। इसमें उनके लाड़-प्यार, डाँट-फटकार की ही मुख्य भूमिका रहती है। फिर जब बच्चा बड़ा होता है, तो उनके बीच का मोहपाश इतना सघन होता है कि उचित-अनुचित जैसे भी प्रस्ताव आते हैं, उसे नकारते नहीं बनता और इच्छा-अनिच्छा से पूरा करना पड़ता है। क्रिया जब आदत में परिवर्तित होती है, तो फिर व्यक्तित्व का एक अंग बन जाती है।

मनुष्य को प्रभावित करने वाला चौथा और सबसे महत्वपूर्ण कारण है वातावरण। वातावरण की समर्थता सर्वविदित है। इसमें बनाने और बिगाड़ने की चुंबकीय व्यक्ति त्वों जैसी क्षमता होती है। बालकों को जैसा वातावरण मिलता है, उनके गुण, कर्म, स्वभाव वैसे ही ढल जाते हैं, भौंरा, झींगुर को एक विशेष वातावरण में रख अपनी बिरादरी का बना लेता है, ऋषिकाल में गाय और शेर के एक ही घाट में पानी पीने की कथा प्रसिद्ध है। सामान्य-सा व्यक्ति भी जब पुलिस का अदना सा सिपाही बन जाता है, तो उसी प्रकार का रौब-दाब दूसरों पर दिखाने लगता है। मुरगी के अंडे जब उसकी छाती के नीचे पकते हैं, तभी चूजे के रूप में विकसित हो पाते हैं। मैसूर के चंदन के बारे में प्रसिद्ध है कि उसमें विशिष्ट सुगंध पायी जाती है।

प्रकारांतर से यह सब संसर्ग और वातावरण के ही प्रभाव हैं, जो मनुष्य में भी अक्षरशः लागू होते हैं। संत-सज्जनों की संगति से उसमें श्रेष्ठता का अभिवर्द्धन होता है, पर दुष्ट-दुर्जनों का कुसंग उसे पतनजन्य पराभव में पहुँचा देता है। कलार की दुकान और नशेबाजी के अड्डों का अपना एक चुंबकीय क्षेत्र होता है, उसके प्रभाव से व्यक्ति अनायास उधर

खिंचने लगता और दुर्मतिजन्य दुर्गति उठाता है। यह सब सामान्यजनों के प्रकरण हुए।

वरिष्ठ व्यक्तियों का मनोबल इससे भिन्न होता है। उनकी निज की प्रतिभा एवं प्रखरता इतनी पैनी और तीखी होती है कि स्वयं वातावरण के प्रभाव में न आकर वातावरण को अपने प्रभाव में ले आते व उसे अपने अनुरूप बना लेते हैं। रस्सी खींचने के खेल में जिस ओर ताकत अधिक होती है, उसी ओर खिंचाव बढ़ता जाता है और वही पक्ष विजय प्राप्त करता है। मनस्वी ऐसे ही स्तर के होते हैं।

उपरोक्त के ये चारों ही प्रकरण ऐसे हैं, जो सामान्य व्यक्ति पर बड़े अमिट छाप छोड़ते हैं। इनमें ढला व्यक्तित्व फिर फौलाद की भाँति ऐसा कठोर हो जाता है कि किसी शिक्षण-उपदेश का कोई असर नहीं पड़ता। पका बाँस कहाँ झुक पाता है। पके घड़े को मिटाकर खिलौना कैसे बनाया जा सकता है। सामान्यजनों पर भी इनके प्रभाव ऐसे ही दिखाई पड़ते हैं।

चक्रव्यूहाद् बहिर्गन्तुं ज्ञानलोकं च दीपितुम्।

श्रेयोऽर्थी विविधानत्र विधीन्नुनं समाश्रयेत्॥ २९॥

अभ्यस्ताया वृतेर्गत्वा प्रेरणाप्रदसंवृतौ ।

निवासः कार्य एतस्मिन् संगतिः प्रभवत्यलम्॥ ३०॥

वातवृत्तिर्न चायाति परिवर्तनतां यदि।

कठिनं दृश्यते दृष्टौ स्वभावे परिवर्तनम्॥ ३१॥

तीर्थसेवनधर्मानुष्ठानादीन्यत एव तु।

कुर्वति स्म, लभते च प्राणतां महतां ततः॥ ३२॥

सत्संगति - समग्रत्वं परामर्शेन वा पुनः।

प्रवचनैर्न परं सिद्ध्येतत् तत्त्वतिसन्निधौ ॥ ३३॥

टीका—इस चक्रव्यूह से निकलने और आत्मज्ञान का आलोक जगाने के लिए श्रेयार्थी को कई उपाय अपनाने होते हैं। अभ्यस्त वातावरण से हटकर कहीं प्रेरणाप्रद वातावरण में निवास करना पड़ता है। संगति का प्रभाव पड़ता ही है। वातावरण न बदले तो दृष्टिकोण और स्वभाव का बदलना कठिन है। तीर्थसेवन जैसे धर्मानुष्ठान इसी उद्देश्य के लिए किए जाते हैं। महामानवों के सान्निध्य से उनकी प्राण ऊर्जा का लाभ मिलता है। सत्संग की समग्रता प्रवचन-परामर्श से नहीं, घनिष्ठ सान्निध्य से उपलब्ध होती है ॥ २९-३३ ॥

आत्मज्ञान का आलोक जगाने और प्रखरता उभारने की प्रक्रिया समझाते हुए ऋषि कहते हैं कि इसके लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति को अभ्यस्त वातावरण से हटकर कहीं उत्तम स्तर की परिस्थितियों में रहने और प्रेरणाप्रद वातावरण में ढलने का अवसर दिया जाए, अन्यथा पुस्तकीय ज्ञान वाली शिक्षा मनुष्य के चरित्र को उत्कृष्ट ढाँचे में न ढाल सकेगी। पुस्तकों में व्यक्तित्व निर्माण-आत्मोत्थान की नागरिकता

और सामाजिकता की शिक्षा का उल्लेख हो सकता है, विद्यार्थी उसे रट भी सकते हैं, किंतु उसे वे जीवनचर्या में भी उतार लें यह आवश्यक नहीं।

खेत को जोतने और बोने की प्रक्रिया आवश्यक है, किंतु खाद-पानी के बिना बात पूरी नहीं होती। फसल काटने और सुसंपन्न बनने का अवसर नहीं आता। मनुष्य का चिंतन सज्जनोचित होना चाहिए, उसमें आदर्शवादिता के तत्वों का समावेश होना चाहिए। यह मानसिक शिक्षण, स्वाध्याय, सत्संग के माध्यम से पठन और परामर्श द्वारा होता है। यह आवश्यक चिंतन को सही दिशा देने के लिए है फिर भी यह नहीं मान बैठना चाहिए कि व्यक्तित्व को प्रखर बनाने में इतना भर कर लेने से काम चल जाएगा। साथ ही यह भी आवश्यक है कि विचारों के अनुरूप वातावरण में रहने और निर्धारणों को चरित्र एवं व्यवहार में उतारने का अवसर मिले। व्यक्ति वैसे ही वातावरण में भी रहे। संपर्क क्षेत्र के लोगों को वैसे ही आचरण करते देखे, ताकि वैसे ही अनुकरण करने की प्रेरणा मिले।

पुरातन काल में गुरुकुलों की शिक्षण पद्धति यह थी कि बच्चों को ऋषि-आश्रमों में निवास करने के लिए भेज दिया जाता था, वहीं वे पढ़ते भी थे और साथियों का, आचार्यों-गुरुओं, ऋषियों का आचरण प्रवाह देखते हुए, उसी ढाँचे में ढलते भी थे। प्रकृति के सान्निध्य में वे वन्य क्षेत्र में बने हुए गुरुकुलों में सुविधाएँ कम थीं। फिर भी निर्धन और संपन्न लोग साथ-साथ रहकर एक विशिष्ट जीवन पद्धति में रहने की सुविधा प्राप्त करते थे। नगरों के साधारण जनों में सभी स्तर के लोग होते थे, उनके संपर्क-प्रभाव से वे छात्र सहज ही बच जाते थे। कुविचारों और कुकर्मों को अपनाने वाले लोग धिच-पिच ग्राम-नगरों में प्रायः अधिक संख्या में रहते हैं, उनकी उत्तेजक गतिविधियाँ कच्ची आयु के लोगों को अधिक प्रभावित करती हैं। उनसे बचाव रखा जाना आवश्यक समझा जाता था, इसलिए पाठ्य-विधि की अपेक्षा जीवनचर्या को अधिक महत्व दिया जाता था। यही कारण था कि बड़े नगरों में विद्यालय बनाने की अपेक्षा, वे ऐसे स्थानों में बनाए जाते थे, जहाँ विद्यार्थी वांछनीय वातावरण और उपयुक्त परिस्थितियों में बने रहें। अध्यापन के विषयों की तुलना में छात्रावास की निवास निर्वाह शैली को अधिक महत्व दिया जाता था। यही कारण था कि जब छात्र कच्ची आयु, किशोरावस्था गुरुकुलों में व्यतीत करने के उपरांत यौवन की परिपक्वता में प्रवेश करते हुए घर वापिस लौटते थे, तब न केवल वे जीवनोपयोगी सभी प्रसंगों का अध्ययन कर चुके होते थे, वरन् व्यक्तित्व की दृष्टि से भी वे इस स्तर के होते थे कि दूसरों का अनुपयुक्त प्रभाव ग्रहण करने के खतरे से दूर

रहते हुए, अपनी विशिष्टता की छाप संपर्क में आने वालों पर छोड़ सकें।

प्राचीनकाल में इसी प्रयोजन की पूर्ति तीर्थसेवन की पुण्य प्रक्रिया द्वारा संपन्न की जाती थी।

आत्मनश्च शरीरस्य स्वस्व पक्षौ तु लाभकौ।

आत्मने श्रेयसोदातृकार्यं निर्धारणं सदा॥ ३४॥

शरीरं साधनं विश्वं क्रीडाक्षेत्रं समर्थितुम्।

आत्मानं स्वगरिम्ण्येव योक्तुं यत्नो रहो भवेत्॥ ३५॥

शरीरसुख - संसारविनोदं द्वयतोऽपि च।

आत्मकल्याणसंबद्धा विभूतिर्बहुमन्यताम्॥ ३६॥

टीका—शरीर और आत्मा के अपने-अपने पक्ष और अपने-अपने लाभ हैं। आत्मा को श्रेय प्रदान करने वाला निर्धारण ही करना चाहिए। शरीर को उपकरण और संसार को क्रीडाक्षेत्र समझने की आस्था उगाने और आत्मा को उसकी गरिमा में अपने अस्तित्व की अनुभूति करने का निरंतर एकांत अभ्यास करना चाहिए। शरीर सुख और संसार विनोद की तुलना में आत्म-कल्याण के साथ जुड़ी हुई महान् विभूतियों को अधिक महत्वपूर्ण मानना चाहिए॥ ३४-३६॥

यहाँ ऋषि जीवन की ऐसी रीति-नीति अपनाए जाने पर जोर देते हैं, जो आत्मा की गरिमा का बोध कराने के साथ आत्मकल्याण की भी भूमिका संपन्न कर सके।

शरीर और आत्मा के अपने-अपने लाभ हैं, इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता। शरीर नहीं हो तो यह संसार-यात्रा कैसे हो? भौतिक उपाजन और श्रम-साधन कैसे बन पड़े? यह सब क्रियाएँ शरीर द्वारा ही संभव हो सकती हैं। इतने पर भी यह नहीं मान लिया जाना चाहिए कि हम शरीर हैं। शरीर तो साधन मात्र है, उपकरण जैसा है। इसका संचालक तो अंतर्निहित आत्मा ही है, अस्तु प्रधानता साधन को नहीं साध्य को आत्मा को दिया जाना चाहिए। उसी की उन्नति-प्रगति की बात सोचनी व ऐसे निर्धारण अपनाए जाने चाहिए, जो आत्मा को श्रेय प्रदान कर सके। ऐसा तभी संभव हो सकता है, जब हम शरीर को गौण और आत्मा को प्रधान मानें, अन्यथा शरीर की प्रमुखता की स्थिति में तो हमारे सारे क्रिया-कलापों का निर्धारण शरीर के अनुरूप होगा, उसी धुरी में हमारी गतिविधियाँ चलेंगी और फिर उसे सजाने-सँवारने के लिए औंधे-सीधे जैसे भी कृत्य बन पड़ेंगे, उससे हम बाज नहीं आएँगे।

ऐसी संभावना उपस्थित न हो, आत्मा का अस्तित्व सदा स्मृति में बना रहे, उसकी गरिमा का ध्यान रहे, इसके लिए उसका एकांत चिंतन-मनन आवश्यक है। हम परमात्मा के अंशधर आत्मा हैं। आत्मा शुद्ध, बुद्ध, नित्य, पवित्र, सत्-चित्-आनंद स्वरूप है, अतः हमारी प्रवृत्तियाँ भी इन्हीं के

५.३८ प्रज्ञोपनिषद्

अनुरूप होनी चाहिए। गाड़ी का इंजन जैसा होता है, गाड़ी वैसी ही चलती है। उन्नत किस्म का इंजन गाड़ी को तीव्र गति प्रदान करता है। आत्मा को इंजन के समतुल्य माना जा सकता है। जब हमारी आत्मा इतनी शुद्ध पवित्र है तो हमारे क्रियाकलाप इतने निम्नस्तरीय क्यों होने चाहिए। हमारी विचारणाएँ-भावनाएँ, आस्थाएँ, मान्यताएँ, इच्छाएँ-आकांक्षाएँ इतनी हेय क्यों हों? इन्हीं के एकांत चिंतन से दैनिक जीवन में वैसी निर्धारणाएँ संभव बन पड़ती हैं, जिसमें आत्मा की गरिमा और इस जीवन की महिमा के साथ आत्मकल्याण जैसा उच्चस्तरीय प्रयोजन शक्य हो पाता है। मनुष्य का गौरव उसके शरीर के कारण नहीं, वरन आत्मा की विभूतियों-विशेषताओं के कारण है, अस्तु महत्ता इन्हीं को दिया जाना चाहिए और इन्हें ही हस्तगत करने का प्रयत्न-उपक्रम चलना चाहिए।

सुरदुर्लभमेतच्च जीवनं तस्य सौभागम्।
उद्देश्यं चोपयोगं च सन्ततं चिन्तयेन्नरः ॥ ३७ ॥
साहसं चार्जितव्यं तद् येन मूढाश्च मान्यताः।
त्यक्त्वाऽसीमि च संबुद्धं स्वातन्त्र्यं प्राप्यतां मुने ॥ ३८ ॥
पुरुषार्थः परश्चैष यः स्वरूपं परं स्वकम्।
यद्रूपेऽनुभवेद्यावच्छ्रेष्ठां दृष्टिं तथा भजेत् ॥ ३९ ॥
अस्मिन् लोकेस्थितोऽप्येष परलोकस्य साधनाम्।
करोति साधनैर्लब्धैश्चात्मभूतिः समर्जयन् ॥ ४० ॥
पूर्णां लक्ष्यां याति कर्तव्या अस्य कारणात्।
आत्मबोधस्य चैकांतसाधनाः साधकैः सदा ॥ ४१ ॥
अभ्यस्तां प्रकृतिं भिन्नां कर्तुं कार्यं तु साहसम्।
प्रवाहाद् वैपरीत्ये च यातुं मत्स्यस्यवद् यथा ॥ ४२ ॥

टीका—सुरदुर्लभ जीवन सौभाग्य के स्वरूप, उद्देश्य और सदुपयोग पर निरंतर विचार करना चाहिए, साथ ही ऐसा साहस जुटाना चाहिए जिससे कुसंस्कारी मान्यताओं के मायाजाल को तोड़कर असीम के साथ जुड़ने की स्वतंत्रता मिल सके। यही परम पुरुषार्थ है। जिसे अपने वास्तविक स्वरूप की जितनी सघन अनुभूति होती है वह उसी अनुपात से उत्कृष्ट दृष्टिकोण अपनाता है। उपलब्ध साधनों के सहारे आत्मिक विभूतियों का संपादन करते हुए वह पूर्णता के लक्ष्य तक पहुँचता है। इसके लिए आत्मबोध की एकांत चिंतन साधना करनी पड़ती है। अभ्यस्त ढर्रे को उलटने के लिए प्रवाह से विपरीत चल सकने का मछली जैसा साहस करना पड़ता है ॥ ३७-४२ ॥

मनुष्य को ईश्वर ने इस सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी बनाया है, उसे सुरदुर्लभ जीवन प्रदान किया है, ताकि वह अन्य प्राणियों की ही तरह गई बीती स्थिति में न पड़ा रहकर जीवन की गरिमा समझे और उसी के अनुरूप रीति-नीति

अपनाए। क्षुद्र आस्थाओं, मान्यताओं, परंपराओं, प्रचलनों, भावनाओं-कल्पनाओं को त्यागें और ससीम से असीम की ओर कदम बढ़ाएँ, क्षुद्र से महान बनने की तैयारी करें, नर से नारायण की अभीप्सा सँजोए, परंतु ऐसा तभी संभव है, जब हम अपना जीवनोद्देश्य समझें, स्वरूप पहचानें, लक्ष्य जानें और सदुपयोग की बात सोचें। उद्देश्य और लक्ष्य के ज्ञान न रहने पर भटकाव ही हाथ लगता है। जंगल में भटक जाने वाले पथिक को यदि रास्ता न मालूम हो तो, वह उसी में भूलता-भटकता मर खप जाता है। मनुष्य भी स्वयं को इसी स्थिति में पाता है। स्वरूप और उद्देश्य की जानकारी न होने की स्थिति में वह इस महान जीवन को तुच्छ समझता व लोभ-मोह के, वासना-तृष्णा के भवबंधनों में खपा कर समाप्त कर देता है। इस प्रकार जो एक अच्छा अवसर उपलब्ध हुआ था, उसे गँवा देता है।

इस स्थिति से उबरने का एक ही उपाय है कि हम सदा मानव जीवन की गरिमा को ध्यान में रखें, इसके स्वरूप एवं उद्देश्य पर विचार करते रहें, तभी वह सब निर्धारणाएँ बन पड़ती हैं, जो परम लक्ष्य तक पहुँचा सकें, अन्यथा अज्ञानता की स्थिति में हनुमान जैसी आत्मविस्मृति ही बनी रहती है और वैसा कुछ करते नहीं बन पड़ता है, जो किया जाना चाहिए। हाथी संभवतः मनुष्य के वशीभूत इसलिए हो जाता है कि उसे अपना आकार-प्रकार, डील-डौल देख नहीं पड़ता। यदि वह अपने विशालकाय को देख सके तो शायद मनुष्य के नियंत्रण में न रहे। मनुष्य के साथ भी यही स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इससे उबरना ही आत्मबोध है।

संकीर्णस्वार्थतायाश्च नाशकं महदाहृतम्।
उदात्तं दृष्टिकोणं तं स्वीकर्तुं यत्नमाचरेत् ॥ ४३ ॥
आत्मकल्याणमेवापि सन्तोषं परमात्मनः।
श्रेयो ददति ये ते नु वासनासक्तिकर्मदे ॥ ४४ ॥
कीटव्याकुलतायास्तु भगवत्प्राप्तिजं मुने।
मकरन्दं पिबन्तं तं मन्यन्ते मधुपं बहु ॥ ४५ ॥

टीका—संकीर्ण स्वार्थपरता के विचारों को काटने वाले महामानवों द्वारा अपनाए जाने वाले उदात्त दृष्टिकोण को समझने और अपनाने का प्रयत्न करना चाहिए। आत्मकल्याण और परमात्मा के संतोष को जो महत्व देते हैं, वे वासना, तृष्णा की सड़ी कीचड़ में कृमि-कीटकों की तरह कुलबुलाते रहने की अपेक्षा सुसंस्कारी भौरों की तरह परमात्म प्राप्ति का मकरंद पान करते हैं ॥ ४३-४५ ॥

पिता की हार्दिक आकांक्षा होती है, कि बेटा उसकी इच्छा के अनुसार चले, कार्य करे और भविष्य की ऐसी रीति-नीति निर्धारित करे, जिससे आगे चलकर वह परिवार-संस्था का दायित्व अपने कंधों पर उठाकर जिम्मेदारी पूर्वक

उसका निर्वाह करे, सजाए-सँवारे और अपने सहोदरों का सहयोग-सहकार करते हुए उसे भी अपनी ही जैसी समर्थ स्थिति तक पहुँचा दे। इसी में पिता को संतोष होता है और परिवार कल्याण भी।

यह संसार भी परिवार जैसा ही है। हम उसके उद्धारक-सुधारक हैं और परमेश्वर के ज्येष्ठ पुत्र भी। निराकार व सूक्ष्म होने के नाते इस विश्व को सजाने-सँवारने की जिम्मेदारी उनसे हम पर सौंप रखी है, और आशा की है कि बड़े पुत्र होने के निमित्त हम इस बड़े उत्तरदायित्व का सफलतापूर्वक निर्वाह करेंगे, पर ऐसा हम कर नहीं पाते। अपनी जिम्मेदारी को भुलाकर अपने को ही सजाने-सँवारने, समुन्नत-सुविकसित बनाने की संकीर्ण स्वार्थपरता में निरत हो जाते हैं, जिससे सही अर्थों में न तो हम अपनी उन्नति प्रगति कर पाते हैं और न इस विश्व परिवार को आगे बढ़ाने, ऊँचा उठाने में ही किसी प्रकार का सहयोग-सहकार करते हमसे बन पड़ता है। आत्मकल्याण और विश्वकल्याण का कोई भी प्रयोजन न सध पाने की स्थिति में हमारी गति त्रिशंकु व उस धोबी के कुत्ते जैसी हो जाती है, जो न तो घर का रह पाता है, न घाट का ही। न तो हम अपना जीवन सुधार पाते हैं, न तो ईश्वर के इस विराट् परिवार को ही कुछ योगदान दे पाते हैं और कृमि-कीटकों जैसी हेय जिंदगी जीते हुए मर जाते हैं, पर जो इस विश्व-वसुधा को समुन्नत बनाने का सत्साहस जुटा पाते हैं, पराक्रम दिखा पाते हैं, वे इस जीवन को तो धन्य बना ही लेते, अपना परलोक भी सुधार लेते हैं। इसी में उसका कल्याण है और परम पिता परमेश्वर का संतोष।

वसुधैव कुटुम्बं च नीतिरेव च धुर्यताम्।

गता धर्मस्य चक्रस्याध्यात्मनश्चापिनिश्चितम् ॥ ४६ ॥

आत्मानं ये तु सर्वेषु भूतेष्व्वात्मनि तान्यपि।

पश्यन्ति प्रथितास्ते तु वस्तुतस्तत्त्वदर्शिनः ॥ ४७ ॥

विराड्विश्वे तदात्मत्वं यांति ये ब्रह्मपारगाः।

उच्यन्ते स्वार्थकार्यैः परकार्याणि मानवाः ॥ ४८ ॥

प्रियाणि मन्वते ते वै साधनैः सीमितैरपि।

प्रसन्नतां भजन्तोऽत्र जीवनं यापितुं क्षमाः ॥ ४९ ॥

आदर्शैश्च महत्यस्ता आकांक्षा यर्हि हे मुने।

युज्यन्ते, वैभवं दर्पा उपेक्ष्यन्ते शनैः समे ॥ ५० ॥

तथ्यान्येतानि सन्त्यत्र स्वर्ग्यमन्तः प्रकुर्वते।

यानि निर्माणमेतच्च नरस्यास्ति कलाऽतिगा ॥ ५१ ॥

टीका—वसुधैव कुटुम्बकम् की नीति ही धर्म और अध्यात्म रूपी दो पहियों की मध्यवर्ती धुरी है। जो सबमें अपने को, अपने में सबको देखते हैं, वे ही तत्त्वदर्शी हैं। विश्व-विराट् में अपने को घुला देने वाले ही ब्रह्मपरायण कहे जाते हैं। स्वार्थ-साधना की तुलना में जिन्हें परमार्थ प्रिय लगने लगे, समझना

चाहिए कि वे सीमित साधनों में प्रसन्नतापूर्वक जीवनयापन कर सकेंगे। महत्वाकांक्षाएँ जब आदर्शों के साथ जुड़ती हैं तो वैभव-बढ़प्पन सबकी उपेक्षा होने लगती है। यही हैं वे तथ्य जो अंतर्जगत को स्वर्गोपम बनाते हैं। यह निर्माण मनुष्य का सर्वोपरि कला कौशल है ॥ ४६-५१ ॥

सामान्यतया मनुष्य की स्वार्थपरता ही प्रधान होती है। वह अपने ही वैभव, विलास, पराक्रम, यश, सम्मान एवं स्वर्ग-मुक्ति की बात सोचता है। परंतु जिस व्यक्ति का स्व सीमित न रहकर असीम बन जाता है, वह जो सोचता है, जो करता है उसमें विश्व व्यवस्था को समुन्नत श्रेष्ठ बनाना ही लक्ष्य होता है। जिसने आत्मवत् सर्वभूतेषु की वसुधैव कुटुम्बकम् की धारणा परिपक्व कर ली, वह अपनी महत्वाकांक्षी कामनाओं एवं चेष्टाओं को विश्व कल्याण के निमित्त ही केंद्रित कर देता है। उसका अपना कहने योग्य कुछ रहता ही नहीं। जिसने द्वैत को अद्वैत में विसर्जित कर दिया अपने एकाकीपन को समष्टिगत चेतना में घुला दिया, कामना को भावना बना लिया, चिंतन और कर्तव्य को विश्व विराट् के लिए समर्पित कर दिया, वही ब्रह्मपरायण कहा जाता है। ऐसे व्यक्ति ही सच्चे धर्मपरायण और अध्यात्मवादी कहे जाते हैं।

अन्तरंगं निजं यस्तु सत्संस्कार - समुज्ज्वलम्।

सज्जितं विदधात्यस्य जगद् वै नन्दनायते ॥ ५२ ॥

एतादृशा नरा ये तु तेषां नृणां क्रियास्वलम्।

सत्प्रवृत्तय एतास्तु यांति दृष्टिपथं सदा ॥ ५३ ॥

कषायैः कल्मषैर्मुक्तचित्तं तद् विद्यते यदि।

बाह्योपचारजा सारहीना सद्भावना मता ॥ ५४ ॥

वात्यया मन्द्याप्येषा तृणानीव क्षणान्मुने।

इतस्ततो व्रजन्ती न कल्याणं भजते क्वचित् ॥ ५५ ॥

साधना ऽवसराऽ प्राप्तिवशादग्निर्विनेन्धनम्।

इव शांता भवन्त्येता दुष्प्रवृत्तय आहताः ॥ ५६ ॥

छिन्नमूलास्तदैवैता जायन्तेऽन्तर्यदा भवेत्।

आध्यात्मिक्यास्तु दृष्टेः स आरोहोमंगलोन्मुखः ॥ ५७ ॥

भयदान् परिणामान् ये दृष्टप्रवृत्त्युदितान् नराः।

सद्वृत्तिपरिणामांश्च जानन्त्ये तैर्विचार्यताम् ॥ ५८ ॥

कायाकल्पसमं योगं लब्धुं तद्धृदयं तथा।

परिष्कर्तुं निमित्तं तद् बाह्यस्योक्तं च वस्तुतः ॥ ५९ ॥

टीका—जिसने अपने अंतरंग को सुसंस्कारिता से सुंदर-सुसज्जित कर लिया उसे सर्वत्र नंदनवन जैसी सुविधा भरी पूरी दृष्टिगोचर होगी। ऐसे लोगों के समस्त क्रियाकलापों में सत्प्रवृत्तियाँ ही दृष्टिगोचर होंगी। अंतःकरण कषाय-कल्मषों से भरा रहे तो बाह्योपचार से उत्पन्न की गई सदाशयता खोखली होती है और वह तनिक सी हवा चलने पर हल्के तिनके की तरह कहीं से कहीं जा पहुँचती है तथा कल्याणयुक्त

५.४० प्रज्ञोपनिषद्

नहीं हो पाते। साधन एवं अवसर न मिलने की विवशता होने पर भी बिना ईंधन के आग बुझ जाने की तरह दुष्प्रवृत्तियाँ पीड़ित हो स्वयं शांत हो जाती हैं, पर उनकी जड़ तभी कटती है जब अंतराल में उत्कृष्टता भरे आध्यात्मिक दृष्टिकोण का आरोपण हो। अतः जो दुष्प्रवृत्तियों के भयावह परिणामों को समझते हैं जो सत्प्रवृत्तियों के परिणामों से परिचित हैं, वे कायाकल्प जैसे सुयोग की प्राप्ति के लिए अंतराल के परिष्कार की बात सोचें। भीतर का सुधार ही बाहरी सुधार का वास्तविक निमित्त बनता है ॥ ५२-५९ ॥

अंतरंग जिस स्तर का होता है, दृष्टिकोण भी उसी के अनुरूप बनता है और दृष्टिकोण जैसा हो, मनुष्य को संसार वैसा ही दीखता है। पीलिया के मरीज को सर्वत्र पीलापन बिखरा नजर आता है। कुएँ की मेंढकी समझती है कि दुनिया कुएँ तक में ही सिमटी है। वस्तुतः यह दृष्टिकोण का अंतर है दृष्टिभ्रम है। दृष्टिकोण यदि उच्चस्तरीय हो, तो वह बुराई में भी अच्छाई ढूँढ़ निकालता है, किंतु अगर अंतराल घटिया स्तर का रहा, तो वह बाल की खाल निकालने से भी नहीं चूकता। चोर सभी को शक की निगाह से देखता है। टिटहरी समझती है कि आकाश यदि टूटकर गिरे, तो वह उसे अपनी टाँगों में थाम लेगी। इन सब प्रकरणों में अंतरंग की ही भूमिका रहती है। वह जिस प्रकार के उपादानों से बना होता है, बाह्य वस्तुएँ हमें वैसी ही नजर आती हैं। व्यक्ति जिस रंग का चश्मा चढ़ा लेता है, हर चीज उसे उसी रंग की दीखने लगती है। इसमें दोष चश्मे का नहीं, उसे लगाने वाले का है। अस्तु दृष्टिकोण बदलने का एक ही उपाय है कि हम अपने अंतःकरण को सुसंस्कारी बना लें, कषाय-कल्मषों, दोष-दुर्गुणों को नियमित रूप से धोते रहें। वृक्षों की बोन्साई पद्धति में पेड़ों की वृद्धि रोकने के लिए उनकी जड़ों को समय-समय पर काटते रहना पड़ता है। इससे उनकी बाढ़ रुक जाती है और पेड़ ठिगने बौने स्थिति में ही आजीवन पड़े रहते हैं। जब पर्याप्त पोषण ही न मिले, तो वृद्धि कहाँ से हो।

जीवन में भी दुष्प्रवृत्तियों को निकालने के लिए इसी प्रक्रिया को अपनाना पड़ता है। दुष्प्रवृत्तियों की जड़ें प्रयासपूर्वक काटनी पड़ती हैं और सत्प्रवृत्तियों को उभारना पड़ता है, तभी अंतरंग और बहिरंग में एकरूपता आ पाती है। इतना नहीं बन पड़े, तो बाह्योपचार की सदाशयता ढोल की पोल ही साबित होती है।

अंतर्जीवनं यच्च परिवर्तनमदभुतम् ।

परिष्कारश्चबाह्योऽस्मिन् जीवने प्रतिभां पराम् ॥ ६० ॥

प्राख्यं कौशलं निष्ठां प्रतिष्ठां च विशिष्टिताम् ।

संपन्नतादिलाभास्तानर्जितुं प्रभवत्यलम् ॥ ६१ ॥

जीवनस्य क्रमे बाह्ये कर्मकौशलजं बलात् ।

परिवर्तनमाश्रित्योपाय आदर्शचारिता ॥ ६२ ॥

द्वितीयश्चान्तरंगं तदाविर्भूतं विधाय तु ।

ज्ञानचेतनयाप्युच्चस्तरया वपुरुद्भवाः ॥ ६३ ॥

प्रवृत्तीरञ्जसा चोच्चस्तरगा भविता मुने ।

उभयोः सुविधायुक्तं रुचियुक्तं स्वमाश्रयेत् ॥ ६४ ॥

टीका—अंतर्जीवन का परिवर्तन-परिष्कार बाह्य जीवन में प्रतिभा, प्रखरता, कौशल, निष्ठा, विशिष्टता, संपन्नता, प्रतिष्ठा जैसे अनेकों लाभ उपार्जित करता है। बाह्य जीवन क्रम में बलपूर्वक कर्म-कौशल से परिवर्तन करके आदर्शवादी प्रक्रिया में ढल जाना एक उपाय है। दूसरा उपाय है अंतरंग को उच्चस्तरीय ज्ञान चेतना से आविर्भूत करके शरीरगत प्रवृत्तियों को अनायास ही उच्चस्तरीय बना देना। दोनों में से जो जिसे सुविधाजनक, रुचिकर लगे उसे अपनाए ॥ ६०-६४ ॥

अंगारे में जब राख की परत चढ़ जाती है, तो उसका स्वरूप ही बदल जाता है। उसकी प्रखरता, उष्णता, रोशनी सभी कुछ विलुप्त हो जाती है और वह मात्र एक ठंडा पिंड-सा प्रतीत होता है, किंतु जैसे ही वह परत हटती है, अंगारा अपनी समस्त विशिष्टताओं के साथ प्रखर अग्नि-पिंड के रूप में प्रकट होता है।

मनुष्य के साथ भी ऐसी ही स्थिति उत्पन्न हो जाती है। वह अद्भुत क्षमता संपन्न है, मगर कषाय-कल्मषों की परत के पीछे उसकी प्रतिभा, क्षमता, विशिष्टता, योग्यता सब कुछ छिप जाती है और अन्य प्राणियों की ही तरह वह निरीह और सामान्य प्रतीत होने लगता है। जो इन कषाय-कल्मषों को, दुष्प्रवृत्तियों-अवांछनीयताओं को निकालने में सफल होते हैं, वे सामान्य से असामान्य, अक्षम से सक्षम, और मलीन से प्रखर बन जाते हैं। महापुरुष-महामानव इसी विधि से विशिष्ट बनते देखे जाते हैं। ऋषि यहाँ क्षुद्र से महान बनने वाले इसी प्रसंग की चर्चा करते हैं।

श्रेयोमार्गस्य पान्था हे ब्रह्मविद्यासु धारणाः ।

क्रियान्विता विधातुं द्वावुपायौ परिकीर्तितौ ॥ ६५ ॥

ज्ञानयोगः कर्मयोगः पूर्णौ च स्वत एव यौ ।

अत्रापि प्रथमं ज्ञानं द्वितीयं कर्म चादृतम् ॥ ६६ ॥

धारा भक्तेस्तृतीया सा याऽनयोश्च समन्वयात् ।

जाताऽध्यात्मन एषोऽस्ति तीर्थराजस्त्रिसंगमः ॥ ६७ ॥

टीका—हे श्रेयमार्ग के पथिकजनों! ब्रह्मविद्या की तात्त्विक धारणाओं को क्रियान्वित करने के ये दो उपाय-ज्ञानयोग और कर्मयोग स्वयं में पूर्ण हैं। इतने पर भी ज्ञान को प्रथम और कर्म को द्वितीय कहा गया है। तीसरी धारा भक्तियोग की है, जो इन दोनों के समन्वय से आविर्भूत होती है। अध्यात्म क्षेत्र का तीर्थराज त्रिवेणी संगम इन तीनों धाराओं के सम्मिलन से बनता है ॥ ६५-६७ ॥

भक्तियोग ज्ञान और कर्मयोग का सम्मिलित स्वरूप है, क्योंकि ज्ञानयोग में आत्मा से प्रेम करना पड़ता है और कर्मयोग में अपनी कार्यकुशलता सिद्ध करनी पड़ती है, जबकि भक्ति योग में उस प्रेम को अपने तक, अपनी आत्मा तक सीमित न रखकर उसे विराट्ब्रह्म के स्तर तक विस्तृत करना पड़ता है और उसी की उन्नति-प्रगति, सेवा-सहायता में अपनी तत्परता दिखानी पड़ती है। उसे कर्तव्य मानकर चलना पड़ता है तथा जिस प्रकार कर्तव्य की उपेक्षा नहीं हो सकती उसी प्रकार स्वयं को उसी के लिए जीना और उसी में समर्पित कर देना पड़ता है। इस प्रकार भक्तियोग में ज्ञान और कर्म दोनों धाराओं का समावेश हो जाता है, क्योंकि यदि विराट् ब्रह्म के प्रति प्रेम नहीं हुआ, तो ज्ञानयोग का संपादन नहीं हो सकेगा और जब प्रेम नहीं हो, तो किसी की सेवा-सहायता, सहयोग-सहकार कैसे हो। इसीलिए भक्ति योग के अवलंबन से ज्ञान और कर्मयोग दोनों के संपादन हो जाते हैं।

भक्तेरर्थो महान् स्नेहः सर्वेष्व्वात्मानमात्मनि ।
सर्वान् द्रष्टुं स्वतोऽवाप्तिर्भक्तेः परिणतिर्मता ॥ ६८ ॥
संकीर्ण - स्वार्थतामुक्तिर्विराड्ब्रह्मैक्यमेव च ।
समाजनिष्ठता बोधो भक्तेः परिणतिर्मता ॥ ६९ ॥
सा निर्झरसमानित्यं सरतीह समन्ततः ।
वातावृतिश्च तेनेयं लाभमाप्नोति मुक्तिदम् ॥ ७० ॥
कासारयोर्द्वयोर्मध्ये जलमार्गं विनिर्मिते ।
स्तरमेकमुभौ तौ तु यात एषाऽत्र संस्थितिः ॥ ७१ ॥
भक्तिभावनयाऽऽयाति जीवस्येह तु कर्मणि ।
गुणस्वभावे चेशस्योत्कृष्टतायाः समागतिः ॥ ७२ ॥
सम्पादनं तु सर्वेषामेतेषां जीवनस्य च ।
कर्मक्षेत्रे सतां संगैः स्वाध्यायैः क्रियते मुने ॥ ७३ ॥

टीका—भक्ति का तात्पर्य है प्यार। सबमें अपने को और अपने में सबको देखने वाली सुविस्तृत आत्मीयता सघन उपासना की ही परिणति है। संकीर्ण स्वार्थपरता के भव-बंधनों से छुड़ाने और विराट् ब्रह्म के साथ घुल-मिलकर समाजनिष्ठ बनने की प्रेरणा भक्ति भावना की ही परिणति है। वह निर्झर की तरह निरंतर झरती रहती है उसका मुक्ति दायक लाभ समूचे वातावरण को मिलता है। दो तालाबों के बीच नाली बनाने पर दोनों की सतह समान हो जाती है। उसी प्रकार भक्ति-भावना अपनाने पर जीव के गुण, कर्म, स्वभाव में ईश्वरीय उत्कृष्टता का अधिकाधिक समावेश होता है। इन सभी का संपादन जीवन रूपी कर्म क्षेत्र में सत्संग, स्वाध्याय के माध्यम से किया जाता है ॥ ६८-७३ ॥

भक्ति कहते हैं प्रेम को, प्यार को, वह प्रेम जो विशुद्ध हो, वह प्यार जो स्वार्थहीन हो। इस स्तर का प्रेम-प्यार भक्ति की ही परिणति है। इसके लिए ईश्वर को प्रथम उपकरण

मानकर अभ्यास आरंभ करना पड़ता है और फिर उस अभ्यास द्वारा विकसित प्रेम को विराट् ब्रह्म के स्तर तक लाना पड़ता है। पानी जब आग के संपर्क में आता है, हवा का जब ताप से संसर्ग होता है तो वे अपने सीमित-संकीर्ण बंधनों को तोड़कर विकास-विस्तार कर लेते हैं।

उपासना से मनुष्य में यही स्थिति उत्पन्न हो जाती है। उपासना अर्थात् भगवान के निकट बैठना। भगवान आदर्शों के समुच्चय को कहते हैं, अतः ईश्वर भक्ति का अर्थ हुआ आदर्शवाद का पक्षधर। प्रेम के विकास का आधार भी यही है।

शास्त्रों के अनुसार उपासना में स्वर्ग की प्राप्ति का जो माहात्म्य बताया गया है, उसमें उपासना करने वाले को भक्ति मार्ग अपनाना पड़ता है। परमात्मा को, आत्मा को आदर्शवाद को जो भी प्यार करना सीख लेगा, अनिवार्यता प्राणिमात्र से प्रेम का अभ्यास उसी को हो पाएगा और इस कारण उसका निवास स्थान एवं समीपवर्ती वातावरण स्वर्गीय अनुभूतियों से भी भरपूर रहेगा।

उपनिषद् का वचन है—“रसो वैसः” अर्थात्-प्रेम ही परमेश्वर है। यह अक्षरशः सही है। ईश्वर से सच्चा तादात्म्य प्रेम से ही जुड़ सकता है। उपासना में हम इसी का अभ्यास करते हैं। निर्जीव निष्प्राण मूर्ति में गहन श्रद्धा, भक्ति, प्रेम का आरोपण कर भगवान को प्रकट होने के लिए विवश करते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि जहाँ भगवान हैं, वहाँ प्रेम-भक्ति है और जहाँ प्रेम है, वहीं भगवान हैं। ‘एकोऽहम् बहुस्याम’ के आधार पर यह विराट् विश्व उसी भगवद् सत्ता का दृश्यरूप है। जीव सत्ता उसी की अंशधर है। उनमें वही चेतना विद्यमान है जो स्वयं ब्रह्म में है। अतः यदि भगवान से हमें सच्चा प्रेम है, तो संपूर्ण प्राणियों से भी होना चाहिए। उपासना का यही तत्त्वदर्शन है, और इसी की उपलब्धि हमें उससे होती है जिस समाज में, जिस समुदाय में ऐसा निश्छल प्रेम विकसित होगा निश्चित रूप से वहाँ का वातावरण स्वर्गिक होगा और देवतुल्य होंगे वहाँ के निवासी।

पतनं सरलं तत्रोत्थानं च कठिनं मतम् ।
सरलो व्यय उक्तो ऽ त्रोपार्जनं कठिनं बुधाः ॥ ७४ ॥
कुसंगः सरलो मृग्यः सत्संगो यत्नतो नरैः ।
पक्षं सहमतं कर्तुं परं काठिन्यमापतेत् ॥ ७५ ॥
अहंत्वं सरलं नूनं महत्ता कठिना मता ।
अल्पाभ्याससुसाध्यं तत्सभ्यताशिक्षणं मतम् ।
सुसंस्कारित्वभावार्थं साधनां श्रमतां व्रजेत् ॥ ७६ ॥
कठिनं कर्म गृह्णाति तत्परत्वं च संततम् ।
ये स्वीकृत्य प्रकुर्वन्ति पूर्णं मान्या मनीषिणाम् ॥ ७७ ॥
अंतर्महत्त्वसंपन्ना बाह्यक्षेत्रे ऽविलंबतः ।

५.४२ प्रज्ञोपनिषद्

लभन्ते गौरवं चान्तं परिष्कारे विनिर्मितौ ॥ ७८ ॥

यथा येषां प्रवृत्तिस्ते तथा भूतिमदुच्छताम्।

देवत्वं चार्जितुं श्रेयः सौभाग्यं ते भजन्त्यलम् ॥ ७९ ॥

टीका—हे मनीषियो यह समझ लेना चाहिए कि पतन सरल है, उत्थान कठिन। व्यय सरल है, उपार्जन कठिन। कुसंग सर्वत्र बिखरा पड़ा है, सत्संग के लिए भारी खोज करनी पड़ती है और दूसरे पक्ष को कठिनाई से ही सहमत किया जाता है। बड़प्पन सरल है, महानता कठिन। सभ्यता का प्रशिक्षण तो थोड़े से अभ्यास से हो सकता है, किंतु सुसंस्कारिता संपादन के लिए तो साधना पुरुषार्थ करना पड़ता है जो कठिन कार्य को हाथ में लेते हैं व उन्हें अनवरत तत्परता अपनाकर पूर्ण कर दिखाते हैं, उन्हें ही महान कहते हैं। जिनमें आंतरिक महानता है उन्हें बाह्य क्षेत्र में गौरव गरिमा प्राप्त करते देर नहीं लगती। अंतराल के परिष्कार और निर्माण में जिनकी जितनी प्रवृत्ति होती है, उन्हें उसी अनुपात में विभूतिवान् देवत्व अर्जित करने का श्रेय-सौभाग्य मिलता है ॥ ७४-७९ ॥

आत्मिक प्रगति का राजमार्ग कंटकों से भरा है। यदि महानता अर्जित करना इतना ही सरल होता तो हर कोई देवदूत, महापुरुष, अवतार बन गया होता। बाह्य प्रगति, रहन-सहन की सुगढ़ता, बोलचाल में मिठास व शालीनता आदि तो प्रशिक्षण से संभव भी है, पर अंतर्जगत का विकास इतना सरल नहीं है। किसी की आकृति बदली जा सकती है, प्रकृति सहज ही नहीं बदली जा सकती।

यहीं पर सामान्य व असामान्य पुरुषों में अंतर देखा जा सकता है। सामान्य व्यक्ति वे, जो चकाचौंध में विश्वास रखते हैं व बड़ा कहलाना चाहते हैं, कहलाने के लिए एक भीड़ भी खड़ी कर लेते हैं पर असामान्य व्यक्ति अंतः की उत्कृष्टता व सुसंस्कारिता के आधार पर महान बनते हैं। उन्हें सहज ही सम्मान मिलता है व दैवी अनुग्रह उन पर अनवरत बरसता है। यह श्रेय उन्हें सहज ही नहीं मिल जाता। पतन-पराभव की ओर ले जाने वाले आकर्षणों से स्वयं को विरत रख वे सदैव श्रेष्ठ ही सोचते हैं, श्रेष्ठता ही जीवन में उतारते व स्वयं प्रवाह से उलटे चलते हुए स्वयं को ऊँचा उठाते हैं।

विद्वांसो! वेदितव्यं च भविद्भिः साधनारतैः।

व्यक्तित्वस्यांतरंगं तं पक्षं बाह्यं समुन्नतम् ॥ ८० ॥

॥ इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः युग दर्शन युग साधना प्रकटीकरणयोः

महर्षि याज्ञवल्क्य प्रतिपादिते आत्मबोध इति प्रकरणो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥

कर्तुमुच्चास्थिरादृष्टिः स्वीकार्या च तथा सदा।

आत्मबोधस्य तज्ज्योतिरुत्पाद्यं भवति ध्रुवम् ॥ ८१ ॥

संस्कारस्यात्मनो नूनं बाह्यसिद्धिस्थितौ तथा।

अंतर्बुद्धिस्वरूपेषु लब्धिर्भवति कीर्तिदा ॥ ८२ ॥

टीका—हे साधनारत विद्वज्जनो आप सबको समझना चाहिए कि व्यक्तित्व के अंतरंग और बहिरंग पक्ष को श्रेष्ठ समुन्नत बनाने के लिए उच्चस्तरीय दृष्टिकोण अपनाना पड़ता है तथा अंतराल में आत्मबोध का आलोक उत्पन्न करना होता है। इस आत्म परिष्कार की परिणति भीतरी ऋद्धियों और बाहरी सिद्धियों के रूप में उपलब्ध होती हैं ॥ ८०-८३ ॥

साधनाओं में सर्वश्रेष्ठ है व्यक्तित्व की साधना। साधा किस प्रकार जाए, यह व्याख्या विस्तार से पूर्व में हो चुकी है। सबसे महत्त्वपूर्ण यह है कि चिंतन की श्रेष्ठता व अंतः के जागरण की प्रतिक्रिया व्यवहार रूप में जीवन में उतरी अथवा नहीं? आत्मपरिष्कार की सबसे बड़ी कसौटी यही है उस व्यक्ति ने किस अनुपात में कितनी विविधता से भरी विभूतियाँ अर्जित कीं। जो स्वयं को विकसित कर इस समुन्नत स्थिति तक पहुँचा देता है, वह ऋद्धि-सिद्धियों का अधिकारी बन जाता है। विभूतिवान् ही, सिद्धियों के धनी ही महामानव कहलाते हैं। वे ही जीवन संग्राम में प्रतिकूलताओं से जूझने, उन्हें निरस्त कर अन्य अनेकों के लिए प्रगति का पथ प्रशस्त करते हैं। महामानव सदैव अपनी विभूतियों का सुनियोजन परहितार्थ करते हैं। आत्मबोध का प्रकाश अपने अंदर जगाकर वे स्वयं एक प्रकाशस्तंभ बन जाते हैं जो अंधकार में भटकते जहाजों को दिशा दिखाते व सही मार्ग बताते हैं।

चतुर्थस्य दिनस्यायं प्रसंगः सत्रसंभवः।

समाप्तः पूर्ववत्तस्मिन् दिने सर्वेऽपि साधकाः ॥ ८४ ॥

व्यवस्थामनुसृत्याथ नित्यकर्माणि तानि ते।

कर्तुं ययुर्निवासान् स्वान् प्रणमंतो महर्षयः ॥ ८५ ॥

टीका—चौथे दिन का सत्र-प्रसंग समाप्त हुआ और नित्य की तरह सभी उस दिन भी निर्धारित नियम-व्यवस्था के अनुसार शारीरिक-आध्यात्मिक नित्य कर्मों के निमित्त अभिवादन पूर्वक अपने-अपने निवास स्थानों को चले गए ॥ ८४-८५ ॥